Artistic Narration Vol. XI No. II July-Dec.2020 ISSN (P): 0976-7444 (e): 2395-7247 Impact Factor 7.719 (SJIF)

आनंद स्वरूप – नव रस

सुप्रिया संजू
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
अमेठी सेंटर फार संस्कृत एंड इंडिट स्टीडिज
अमेठी यूनिवर्सिटि हरियाणा
ईमेलः supriyasanju@gmail.com

Reference to this paper should be made as follows:

सुप्रिया संजू

"आनंद स्वरूप – नव रस

Artistic Narration 2020, Vol. XI, No. II, Article No. 26 pp. 167-174

https://anubooks.com/artistic-narration-no-xi-no-2-july-dec-2020/

सारांश

रस नाट्यशास्त्र का सर्वप्रमुख तत्व है। कवि और अभिनेता का मुख्य प्रयोजन दर्शकों को रसास्वाद कराना ही होता है। रंगमंच का निर्माण, विभिन्न उपकरणों की तैयारी वस्तु, पात्र सभी कुछ इसलिए उपयोगी होता है क्योकि उससे दर्शकों को रसास्वादन कराने में सहायता मिलती है। नृत्य, संगीत इत्यादि का उपयोग भी रसास्वादन के लिए ही होता है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में नाट्यसंग्रह में रस को सर्वप्रमुख और सर्वप्रथम स्थान दिया गया है तथा इतर तत्त्वों के सन्निवेश की परिकल्पना रस को दृष्टिगत रख कर की गई है। रसानुभूति काव्य में निरूपित विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के द्वारा सम्मिलित रूप से की गई स्थायीभाव की अभिव्यञ्जना से होती है। अपने ही अंतःकरण में स्थायी रूप से विद्यमान रति आदि अजागृत भावों को विभावादि के वर्णनों एवं अभिनय से जागृत कर अपने ही मन के द्वारा आस्वादनीय बना दिया जाता है। इस प्रकार जो आस्वाद सम्पन्न होता है उसे ही नाट्यशास्त्र में रस की संज्ञा दी गई है। हर भाव का अपना एक रस होता है। रति के भाव से श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है। इसी तरह से हास से हास्य, क्रोध से रौद्र, शोक से करुण, उत्साह से वीर, जुगुप्सा से वीभत्स, भय से भयानक और विस्मय से अदभुत रस का जन्म होता है। नौवां भाव निर्वेद है, जिससे षांत रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि ने ही सर्वप्रथम अपनी पुस्तक में बताया कि जब हमारा कोई स्थायी भाव रस में बदलता है तो हम अत्यधिक आनंद को प्राप्त कर लेते है। रसमय होने की यह स्थिति अद्‌भुत आनंद देने वाली होती है। उस आनंद को उन्होंने ब्रह्मानंद का सहोदर यानी उसके समान बताया है। किसी कहानी, कविता या नाटक में दिए गए वर्णन से भी हमारे भीतर रस की उत्पत्ति होती है, जिससे हमें आनंद की अनुभूति होती है। इसीलिए नाटक में कोई कारुणिक दृश्य देख कर हम वहां रोते हैं, फिर भी आनंदित होते हैं। प्रत्येक मनुष्य के भीतर ये भाव स्थायी रूप से निवास करते हैं। जीवन में सभी नवरसों की जरूरत होती है। कुछ ही भाव सदा प्रबल रहें तो अच्छा नहीं लगता।

सुप्रिया संजू

प्रस्तावना

रस का शाब्दिक अर्थ है 'आनन्द'। काव्य को पढ़ने या सुनने से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे 'रस' कहा जाता है। पाठक या श्रोता के हृदय में स्थित स्थायीभाव ही विभावादि से संयुक्त होकर रस के रूप में परिणत हो जाता है। रस को 'काव्य की आत्मा' या 'प्राण तत्व' भी माना जाता है।

जब हम कोई अच्छा काव्य पढ़ते है अच्छा अभिनय देखते हैं तो हमें आनंद क्यों मिलता है? जब कोई दुष्ट व्यक्ति किसी कमजोर को कष्ट पहुंचता है, तो हमें क्रोध क्यों आता है? हम सभी के मन में नौ प्रकार के स्थायी भाव होते हैं। ये भाव हैं : रति, हास, क्रोध, शोक, उत्साह, जुगुप्सा, भय, विस्मय और निर्वेद। किसी बाहरी परिस्थिति या उद्दीपन के कारण इन्हीं भावों से रस का संचार होता है और हमारे अंदर प्यार, करुणा या क्रोध उत्पन्न होता है। जब हम बाहरी दुनिया में कुछ देखते या सुनते हैं, तो हमारे मन में विद्यमान किसी एक भाव को बाहर आने के लिए एक सहारा मिलता है। जैसे कोई व्यक्ति बंदर का रूप बना कर नाच रहा हो। तो हमारे मन में पहले से मौजूद हास्य भाव को उसके रूप–रंग और भाव–भंगिमा से आलंबन या सहारा मिलता है। उसके माध्यम से हमारे भीतर हास्य रस की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शौर्य से युक्त संगीत की धुन सुन कर और जवानों को कदम से कदम मिला कर चलते देख कर हमारे अंदर पूर्व से ही विद्यमान उत्साह का भाव, वीर रस का अनुभव कराता है। हर भाव का अपना एक रस होता है।

भरत मुनि ने ही सर्वप्रथम अपनी पुस्तक में बताया कि जब हमारा कोई स्थायी भाव रस में बदलता है तो हम उसमें डूब जाते हैं, ओत–प्रोत हो जाते हैं। रसमय होने की यह स्थिति अद्भुत आनंद देने वाली होती है। उस आनंद को उन्होंने ब्रह्मानंद का सहोदर अर्थात ब्रह्मानन्द के सदृश बताया है। किसी काव्य अथवा नाटक में दिए गए वर्णन से भी हमारे मन में रस की उत्पत्ति होती है, जिससे हमें आनंद की अनुभूति होती है। अतः नाटक में कोई कारुणिक दृश्य देख कर हम वहां रोते हैं, तथापि हम आनंदित होते हैं। दुष्ट, दुराचारी व्यक्ति का कार्य देख कर क्रोध करते हैं, फिर भी आनंदित होते हैं। व्यक्ति के विभिन्न हाव – भाव तथा चेष्टाएँ उसकी मनः स्थिति की परिचायक होती है। प्रसन्न व्यक्ति का मुखमण्डल एक विशेष आभा से दमक उठता है नेत्र प्रसन्नता से चमकने लगते हैं। कारण–अकारण ही वह हंस पड़ता है तथा विविध चेष्टाओं से अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता है। उसको देखकर एक अपरिचित जन भी सहज ही कह सकता है की अमुक व्यक्ति प्रसन्न है। इसी प्रकार बुझे हुए नेत्रों, कान्तिहीन मुखमण्डल एवं आर्तस्वर वाले व्यक्ति को देखकर उसकी शोकावस्था का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। काव्य में इन्हीं हाव–भाव तथा चेष्टाओं के वर्णन से तथा नाटक में उनके अभिनय के माध्यम से सहृदय व्यक्ति को अवस्था विशेष में नायक आदि की मनः स्थिति का बोध होता है। काव्य में वर्णन जितना सूक्ष्म और नाटक में अभिनय जितना सजीव होता है उतना ही सहृदय अधिक प्रभावित होते है।

रस का स्वरूप

रस नाट्यशास्त्र का सर्वप्रमुख तत्व है। कवि और अभिनेता का मुख्य प्रयोजन दर्शकों को रसास्वाद कराना ही होता है। रंगमंच का निर्माण, विभिन्न उपकरणों की तैयारी वस्तु, पात्र सभी कुछ इसलिए उपयोगी होता है क्योकि उससे दर्शकों को रसास्वादन कराने में सहायता मिलती है। नृत्य, संगीत इत्यादि का उपयोग भी रसास्वादन के लिए ही होता है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में नाट्यसंग्रह

में रस को सर्वप्रमुख और सर्वप्रथम स्थान दिया गया है तथा इतर तत्त्वों के सन्निवेश की परिकल्पना रस को दृश्टिगत रख कर की गई है। रसानुभूति काव्य में निरूपित विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के द्वारा सम्मिलित रूप से की गई स्थायीभाव की अभिव्यञ्जना से होती है। अपने ही अंतःकरण में स्थायी रूप से विद्यमान रति आदि अजागृत भावों को विभावादि के वर्णनों एवं अभिनय से जागृत कर अपने ही मन के द्वारा आस्वादनीय बना दिया जाता है। इस प्रकार जो आस्वाद सम्पन्न होता है उसे ही नाट्यशास्त्र में रस की संज्ञा दी गई है –

भावाभिनयसंबद्धनस्थायिभावांस्तथाबुधाः।

आस्वादयन्तिमनसातस्मान्नाट्यरसाःस्मृताः।।ना.शा.6–३३।

स्थायीभाव चित्त की रागात्मक वृत्तियाँ है जो मूलतः चार ही होता है – विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप जिन्हें काव्य में रति, उत्साह, क्रोध एवं जुगुप्सा कहा गया है। इन्हीं का आस्वादरस है। अतः श्रृंगार, वीर, रौद्र एवं भयानक चार ही मूल रस हैं। चित्त की उक्त चारों वृत्तियों की एक–एक उपवृत्तियाँ भी होती हैं : जो उन्हीं से उत्पन्न होती है। जिनका अनुभव हास्य, अदभुत, करुण एवं भयानक के रूप में होता है। इसप्रकार कुल आठ रस होतें हैं।

श्रृङ्गारादिभवेद्धास्योरौद्राच्चकरुणोरसः।

वीराच्चौवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्चभयानकः।।

नाट्यशास्त्र में नवम रस शान्त का भी विवरण उपलब्ध होता है। जिसका स्थायी भाव शम कहा गया है जो उक्त चरों प्रकार की मूलवृत्तियों का आभाव रूप होता है। विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव रूपी अपने–अपने निमित्त कारण के द्वारा शान्त से ही स्थायी भाव की प्रवृत्ति होती है। अनन्तर उन निमित्तों के हट जाने पर सभी भाव पुनः शान्त में ही विलीन हो जाते है–

भवाविकाराररत्याद्याःशान्तस्तुप्रकृतिर्मतः।

स्वंस्वंनिमित्तमादायशान्ताद्भावःप्रवर्तते।

पुनर्निमित्तापायेतुशान्तएवोपलीयते।।

रस के सम्बन्ध में भरत मुनि का कथन है –विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः (ना. शा. –६ अ./७१ पृ.)

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि सहृदयों का स्थायिभाव जब विभाव, अनुभव और संचारिभाव का संयोग प्राप्त करता है तो रस रूप में निष्पन्न हो जाता है।

रस और भावों की परस्परता के लिए भरत मुनि का स्पष्ट निर्देश है कि जिस प्रकार मिट्टी में व्याप्त गन्ध जलादि के संयोग से प्रस्फुटित हो जाती है उसी प्रकार रत्यादि स्थायी भाव के संयोग से निष्पन्न होकर रसत्व को प्राप्त करतें है। भावों से रस की उत्पत्ति मानते हुए भरत मुनि रस को मूल मानकर उसी में भावों को व्यवस्थित मानते है

तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता। ना.शा. ६ / ३८

रस के स्वरूप के विषय में आचार्य विश्वनाथ का यह श्लोक अत्यंत ही सुन्दर है,जिसमें उन्होंने

रस के स्वरूप को अत्यंत ही सुन्दर और सरल रूप में प्रस्तुत किया है–

सत्त्वोद्रकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणःकैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः।। स.द.–३ /२ –३

इस श्लोक के अनुसार रस, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, विद्यांतरस्स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वादसहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण एवं अपने आकार से अभिन्न होता है इन सभी विशेषताओं में आचार्य विश्वनाथ ने रस को लोकोत्तरचमत्कारप्राण तथा आनन्दमय कहा है। इन स्वरूपों के माध्यम से रस की स्थिति को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि रस लौकिक भावनाओं से उत्पन्न सुख एवं दुःख और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र के आनन्द के मध्य की है। लौकिक भावनाओं से मानव को सुख भी मिलता है, और दुःख भी किन्तु रस का आनन्द यद्यपि होता तो लौकिक ही है, पर वह केवल सुखात्मक होता है, किन्तु यह सुख सामान्य कोटि का ना होकर उत्कृष्ट कोटि का होता है। अतः इसे लोकोत्तर आनन्द कहते है।

नव रस का इतिहास

साहित्यशास्त्र का ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि रस का विवेचन तत्त्व, सिद्धांत एवं संप्रदाय तीनों रूपों में हुआ है। दोष, गुण, अलंकार, रीति, वृति एवं प्रवृति आदि की भाँति रस भी काव्य का एक अन्यतम तत्त्व है, चाहे वह दृश्य हो या श्रव्य। श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन तथा श्रवण में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य में रस कहलाता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में रस का आख्यान जिस शास्त्रीय परिपक्वता में प्राप्त होता है उससे यही लगता है कि भरत मुनि के पूर्व रस की शास्त्रीय स्थिति स्थापित रही होगी।

रस का उल्लेख रामायण एवं महाभारत में तो साक्षात् हुआ ही है वैदिक संहिताओं में भी प्रकारान्तर से इसका निरूपण हुआ है। वेदों में प्रायः सभी रसों का यथास्थान वर्णन हुआ है। श्रृंगार रस के संभोग और विप्रलम्भ दोनों पक्षों का विस्तार से वर्णन मिलता है। वीररस, हास्य रस, अदभुत रस भयानक बीभत्स और वातसल्य रसों का वर्णन मिलता है विप्रलंभ श्रृंगार का बहुत सुन्दर वर्णन पुरुरवा – उर्वशी संवाद (ऋग. १०. ६५. १ से १८) में मिलता है चार वर्ष सहवास के पश्चात् उर्वशी और पुरुरवा को छोड़कर जा रही है। पुरुरवा विक्षिप्तमन है। वह आत्महत्या तक करने को तैयार है, उर्वशी उसे समझाती है कि तुम विलाप न करो, मैं वायु की तरह दुर्लभ हूँ, विद्युत की तरह उड़ने वाली हूँ। पक्षी जैसे अपना घोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मैं जा रही हूँ। स्त्री का प्रेम स्थायी नहीं होता है। अतः धैर्य रखो।

इसी प्रकार संभोग श्रृंगार के अनेक संदर्भ अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं। एक प्रेयसी अपने पति को दुपट्टे में बांधकर रखना चाहती है, जिससे वह किसी अन्य स्त्री की ओर न देख सके और न उसका नाम ले पाए।

अभित्वामनुजातेन, दधामिममवाससा।
यथासोममकेवलो, नान्यासांकीर्तयाश्चन।। अ. ७.३७.१

इन उदाहरणों के अतिरिक्त वेदों में और दर्शनों में रस शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में भी हुआ है। उपनिषदों में अधिक सूक्ष्म और अभौतिक अर्थ–संदर्भ में रस का प्रयोग मिलता है। छान्दोग्योपनिशद रस के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले जाने का अष्टचरणीय विवरण उपस्थित करता है, यथा– एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामौषधयो रसः । छान्दो.१/१/२–३

सांख्य दर्शन में रस का अर्थ अधिक सूक्ष्म, अधिक उदात्त है। यहाँ रस को सूचित करने वाली स्थिति का उल्लेख तन्मात्रा से हुआ है।

भरत पूर्व रस की शास्त्रीय अर्थवत्ता का एक और प्रमाण वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है। यहाँ रति, काम आदि के अर्थ में रस की सूक्ष्म भावात्मक प्रतिष्ठा मिलती है।

इन सब संदर्भो से यह ज्ञात होता है की भरत के पहले भी रस की शास्त्रीय स्थिति स्पष्ट रही होगी।

रस का अधिष्ठान क्या है

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है की रस का अधिष्ठान क्या है? रस का आस्वादन कोई रसिक व्यक्ति करता है तो क्या वह रस उसके ही अंदर होता है या कहीं अन्यत्र। अन्यत्र या तो मूलपात्र में हो सकता है या उसका अभिनय करने वाले नट में। विद्वानों का मानना है की रस रसिक में ही विद्यमान रहता है, क्योंकि वही आस्वादन करता है परगत वस्तु का कोई आस्वादन नहीं कर सकता। रस पद का निर्वाचन करते हुए नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि कहतें है – रस इति कः पदार्थ। उच्चते। अस्वाद्यत्वात्। अर्थात् रस को रस पद से इसलिए अभिहित किया गया है कि वह 'रस आस्वादने' धातु से निष्पन्न होकर आस्वादनीयता को बताता है। काव्य में जो तत्त्व आस्वादित होता है उसी की संज्ञा रस है। मधुर आदि को लोक एवं शास्त्र उभयत्र रस इसलिए कहा जाता है क्योकि वे आस्वादनीय होते है। रस में भी यह आस्वादनीयता पाई जाती है अतः उसको भी रस कहा जाना सर्वथा समुचित ही है–

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुन्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।।

रस को हम मूलपात्रगत नहीं मान सकते, इसके कई कारण हैं –एक तो रामादि मूलपात्र जिनका अभिनय किया जाता है, इस समय विद्यमान नहीं होतें है। वे अतीत की वस्तु हो चुके होतें है, अतः उनके भाव का आस्वादन किया ही नहीं जा सकता। उनका भाव भी उनके साथ अतीत की वस्तु बन जाता है यद्यपि भर्तृहरि ने कहा है कि शब्द में बिम्ब बनाने की शक्ति होती है। इस प्रकार वर्णन के आधार पर हमारे अन्तःकरणों में रामादि के बिम्ब का निर्माण हो सकता है। परन्तु वह बिम्ब विभावादि रूपता के सम्पादन में ही कारण होता है, आस्वादन प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। कारणरूपता में उसका उपयोग हो सकता है स्वरूप सम्पादन में नहीं। दूसरा तथ्य यह है कि कवि ऐतिहासिक राम में रसोत्पादन के लिए काव्यरचना नहीं करता, किन्तु उसका उद्देश्य सहृदयों को आनन्द देना होता है। सहृदयों को स्वसम्बद्ध आनंद की ही प्राप्ति हो सकती है। अतः रस को स्वगत या हृदयगत ही मानना चाहिए। रस अनुकार्यगत भी नहीं होता, यथा काव्य में दो व्यक्तियों के प्रेम का अभिनय देखकर या उसका वर्णन पढ़कर सहृदय के हृदय में स्वतः आनंद उत्पन्न हो जाता है जो लोक में नहीं हो सकता है।

उपसंहार

काव्यानुभूति में रस हमें स्वयं में समेट कर आत्मविस्मृति की ओर ले जाता है। इस अवस्था में न तो हमें किसी नई जानकारी का बोध होता है और न ही विचित्रता की अनुभूति होती है। हमारे अंग–प्रत्यंग रोमांचित हो उठता है, और रग–रग में उत्साह का संचार हो जाता है। इसे ही 'रस' कहते हैं।

रसानुभूति का आंतरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मन के भीतर स्थित रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्‌बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है, और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वाद जनक या रस्य–गान होने से रस शब्द से बोध्य होती है। अतः व्यक्तः स तैविभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः आदि कहा गया है। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं। रस आनंद रूप है और यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। मनुष्य इन्द्रियों पर संयम करता है, तो विशयों से अपने आप हट जाता है। परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में चरक, सुश्रुत में मिलता है। दूसरे अर्थ में, अवयव तत्त्व के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाय, व्यर्थ हो जाय पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है, तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है।

नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है। रस को ब्रह्मानंद सहोदर, स्वप्रकाशानंद, विलक्षण आदि बताया जाता है और इस आधार पर सभी रसों को आनंदात्मक माना गया है। अभिनवगुप्त (11वीं शती ई.) ने निर्विघ्न प्रतीति तथा आनंदवर्धन (9 श. उत्तर) ने करुण में माधुर्य तथा आर्द्रता को अवस्थित बताते हुए श्रृंगार, विप्रलंभ तथा करुण को उत्तरोत्तर प्रकर्शमय बताकर सभी रसों की आनंदस्वरूपता की ओर ही संकेत किया है। अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम 'अभिनवभारती' में 'सुखदुरूखस्वभावों रस'' सिद्धात को प्रस्तुत कर दिया था। सुखात्मक रसों में श्रृंगार, वीर, हास्य, अद्‌भुत तथा शांत की और दुरूखात्मक में करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक की गणना की गई।

दूसरी ओर रसों को आनंदात्मक मानने के पक्षपाती सहृदयों को ही इसका प्रमण मानते हैं और तर्क का सहारा लेते हैं कि दुःखदायी वस्तु भी यदि अपनी प्रिय है तो सुखदायी ही प्रतीत होती है। मधुसूदन सरस्वती रसों को लौकिक भावों की अनुभूति से भिन्न और विलक्षण मानकर इनकी आनंदात्मकता का समर्थन करते है और अभिनवगुप्त वीतविघ्नप्रतीत बताकर इस धारणा को स्पष्ट करते हैं कि उसी भाव का अनुभव भी यदि बिना विचलित हुए और किसी बाहरी अथवा अंतरोद्‌भूत अंतराय के बिना किया जाता है तो वह सह्य होने के कारण आनंदात्मक ही कहलाता है। यदि दुरूखात्मक ही मानें तो फिर षृंगार के विप्रलंभ भेद को भी दुरूखात्मक ही क्यों न माना जाए? इस प्रकार के अनेक तर्क देकर रसों की आनंदरूपता सिद्ध की जाती है।

विद्वानों के अनुसार जो रचनाकार अपनी रचना से रस निष्पादन में समर्थ होते हैं वो कवीश्वर

है, वो ही वस्तुतः सुकृति अर्थात् उत्तम रचना करने वाले माने गए हैं। ऐसे रससिद्ध कवियों के यशों रूपी शरीर को न जरा का भय होता है न मरण का

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वरः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 Natyashastra – Prof Brojmohan Chaturvedi
2 Performance Tradition in India – Sursesh Awasthi, Ed, Year 2009
3 Abhinaya Darpana– Nandi Keshwaran